स्वास्थ्य रक्षा का आधार–सम्यग् आहार-विहार

–सुशीला देवी जैन

हमारे शरीर का स्वस्थ रहना हमारे लिए अत्यन्त आवश्यक है। यदि शरीर स्वस्थ नहीं है तो मनुष्य अपने कार्य कलापों को समुचित रूप से सम्पन्न करने में समर्थ नहीं होता है। शरीर की स्वस्थता का सम्बन्ध मन और उसकी स्वस्थता से भी है, अतः शरीर की स्वस्थता और अस्वस्थता का पर्याप्त प्रभाव मन और मानसिक स्वास्थ्य पर पड़ता है। इस सम्बन्ध में आयुर्वेद के महर्षियों ने बहुत ही तथ्य परक एवं महत्वपूर्ण बात कही है। उनके अनुसार शरीर का डील-डौल अच्छा रहना या शरीर में कोई बीमारी उत्पन्न नहीं होना ही पर्याप्त नहीं है, अपितु सम्पूर्ण शरीर की समस्त क्रियाएं अविकृत रूप से सम्पन्न हों, मन में प्रसन्नता हो, इन्द्रियां निराबाध रूप से अपना कार्य करें, तब ही मनुष्य स्वस्थ कहा जा सकता है। आयुर्वेद के एक ग्रंथ 'अष्टांग हृदय' में आचार्य वाग्भट् ने स्वस्थ पुरुष की परिभाषा निम्न प्रकार से बतलाई है–

समदोषः समाग्निश्च सम धातुमलक्रियः।
प्रसन्नात्मेन्द्रियमनः 'स्वस्थ' इत्यभिधीयते॥

अर्थात् जिस मनुष्य के शरीर में स्थित दोष (वात-पित्त-कफ) सम (अविकृत) हों, जठराग्नि (पाचकाग्नि) सम (अविकृत) हो, धातुओं (रस-रक्त-मांस-मेद-अस्थि-मज्जा-शुक्र) और मलों (स्वेद-मूत्र-पुरीष) की क्रियाएं सम (अविकृत) हों, आत्मा, इन्द्रिय और मन प्रसन्न हों वह स्वस्थ होता है।

आयुर्वेद के अनुसार शरीर में वात-पित्त-कफ ये तीन दोष होते हैं जो अपनी सम अवस्था में शरीर को धारण करते हैं–यही शरीर की स्वस्थावस्था है। दोषों का क्षय या वृद्धि नहीं होना सम या अविकृत अवस्था कहलाती है। किसी एक भी दोष का क्षय या वृद्धि होना विकृति कारक होता है। इस प्रकार विकृत या दूषित हुआ दोष उपर्युक्त धातु या धातुओं को विकृत (दूषित) करता है जिससे उन धातुओं में क्षय या वृद्धि रूप विकृति उत्पन्न होती है। इसका न्यूनाधिक प्रभाव अन्न को पचाने वाली जठराग्नि, इन्द्रिय, मन और आत्मा पर भी पड़ता है। ये सब जब सम अवस्था में रहते हैं तो अविकृत रहते हुए शरीर को स्वस्थ रखते हैं। इनकी विषम स्थिति विकृति की द्योतक होती है, अतः शरीर अस्वस्थ याने रोग ग्रस्त हो जाता है। यह तथ्य निम्न आर्ष वचन से स्वतः स्पष्ट है–"**रोगस्त दोषवैषम्यं दोषसाम्यमरोगता।** अर्थात् दोषों की विषमता रोग और दोषों की साम्यावस्था अरोगता की परिचायक है। इसी प्रकार एक अन्य आर्ष वचन के अनुसार "**विकारो धातुवैषम्यं साम्यं प्रकृतिरुच्यते।**" अर्थात् धातुओं की विषमता विकार और समता प्रकृति कहलाती है।

आयुर्वेद में प्रतिपादित स्वस्थ, निरोग या आरोग्य की उपर्युक्त व्याख्या अत्यन्त व्यापक, सारगर्भित और महत्वपूर्ण है जो अपने आप में पूर्ण और सार्थक है। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में इस प्रकार का कोई दृष्टिकोण, विचार या सिद्धान्त नहीं है। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान जो स्वयं को एकमात्र वैज्ञानिक होने का दावा करता है में मनुष्य को स्वस्थ रहने के लिए केवल भोजन और उसके आवश्यक तत्वों के सन्तुलन पर ही बल दिया गया है, जिसके अनुसार प्रोटीन, विटामिन्स, कार्बोहाइड्रेट्स, वसा और खनिजों को उपयुक्त अनुपात में सेवन करने से स्वास्थ्य की रक्षा हो सकती है।

सामान्यतः हमारे द्वारा जो कुछ भी आहार ग्रहण किया जाता है उसका जठराग्नि के द्वारा पाचन होने के बाद जो आहार रस बनता है वह सीधा दोषों को प्रभावित करता है। अतः मनुष्य के द्वारा जब ऐसे आहार विहार का सेवन किया जाता है जो हमारे शरीर के अनुकूल नहीं होता है तो उसके परिणाम स्वरूप शरीर में दोष वैषम्य (दोषों का क्षय या वृद्धि) उत्पन्न होता है जिससे धातुएँ प्रभावित होती हैं, और धातु वैषम्य उत्पन्न हो जाता है। धातु वैषम्य के कारण शरीर में विकारोत्पत्ति होती है। हिताहार-विहार दोषों की समस्थिति बनाए रखने में सहायक होता है और स्वस्थ व्यक्ति के लिए दोषों की साम्यावस्था अत्यन्त आवश्यक है।

शरीर को स्वस्थ एवं निरोग रखने के लिए यह भी आवश्यक है कि मनुष्य का आहार सम्यक् हो। हित-मित आहार का सेवन करने से शरीर में स्थित दोष-धातु-मल समावस्था में रहते हैं और वे अपने अविकृत (प्राकृत) कार्यों के द्वारा शरीर का उपकार करते हैं। मनुष्य इन्द्रियों के वशीभूत होकर अहित विषयों में प्रवृत्त न हो, विशेषतः रसना इन्द्रिय के वशीभूत होकर वह अभक्ष्य भक्षण एवं अति भक्षण में प्रवृत्त न हो। मिथ्या आहार से अपने शरीर की रक्षा करते हुए मनुष्य को शुद्धता एवं सात्विकता पूर्वक अपना जीवन निर्वाह करना चाहिये। आचरण की शुद्धता मानव जीवन के उत्कर्ष के लिए अत्यन्त आवश्यक है। अतः सात्विक वृत्ति पूर्वक उसे परिमित रूप में ही विषयों के सेवन में प्रवृत्ति रखना अभीष्ट है। जो मनुष्य अपने आचरण की शुद्धता और हिताहार के सेवन की ओर विशेष ध्यान देता है वही व्यक्ति सुखी और निरोगी जीवन का उपभोग करता है।

आहार–आहार प्रत्येक मनुष्य के लिए विशेष महत्व रखता है। एक ओर वह शरीर की स्वास्थ्य रक्षा, मानसिक स्वास्थ्य एवं बौद्धिक सन्तुलन के लिए उत्तरदायी है तो दूसरी ओर अनेक बीमारियों को उत्पन्न करने में भी कारण है। प्रत्येक मनुष्य के शरीर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एवं मन की प्रकृति एवं दोष स्थिति भिन्न-भिन्न होती है। यही कारण है कि सभी मनुष्यों के लिए एक जैसा आहार सदैव अनुकूल नहीं रहता है। कुछ लोगों को मधुमेह, ब्लड प्रेशर (उच्च या हीन रक्तचाप) मानसिक या बौद्धिक तनाव, अम्लपित्त (एसिडिटी), गैस की बीमारी, कब्ज की शिकायत, अनिद्रा आदि कुछ ऐसी बीमारियाँ हैं जो सीधे उसके आहार से प्रभावित होती हैं। हमारे द्वारा सेवन किया गया आहार सीधे-सीधे हमारी जठराग्नि, शरीर के आभ्यन्तरिक अवयवों और उनकी क्रियाओं को प्रभावित करता है, कभी अनुकूल रूप से और कभी प्रतिकूल रूप से। जब अनुकूल रूप से प्रभावित करता है तो शरीर स्वस्थ, पुष्ट और विकास की ओर अग्रसर रहता है। इसके विपरीत जब प्रतिकूल रूप से प्रभावित करता है तो अनेक प्रकार की बीमारियाँ शरीर में उत्पन्न होकर शरीर को अस्वस्थ कर देती हैं।

प्रकृति के नियमानुसार उपयुक्त आहार समय पर लेना चाहिये। सामान्यतः दिन में दो बार ही उचित प्रमाण में आहार लेना चाहिये। असमय या बार-बार लिया गया आहार पाचनतंत्र और उससे सम्बन्धित अवयवों की प्राकृत क्रिया को प्रभावित करता है। अधिक मात्रा में लिया गया आहार अजीर्ण तथा पेट सम्बन्धी अन्य बीमारियों का कारण बनता है। जिस ऋतु में, जिस अवस्था में जिन खाद्य पदार्थों के सेवन से शरीर की पाचन क्रिया प्रतिकूल रूप से प्रभावित या बाधित न हो, खाया पदार्थ शीघ्र पच जाय, अजीर्ण, अफारा अतिसार खट्टी डकार आदि विकार उत्पन्न नहीं हों वही खाद्य या आहार ग्रहण करना चाहिये। भोजन के समय का ध्यान रखना भी आवश्यक है। दिन में दो बार ही भोजन करना चाहिये और दो भोजन के बीच का अन्तराल ४ से ६ घण्टे से कम नहीं होना चाहिये। जो व्यक्ति दिन में कई बार या बार-बार खाता है वह बीमारी स्वयं बुलाता है।

लगातार अल्पहार या अनाहार करना स्वास्थ्य के लिए नुकसान दायक होता है। रोगग्रस्त होने पर या किसी विशेष स्थिति में उपवास या लंघन करना उपयुक्त हो सकता है। विशेष परिस्थितियों में उसका अपना महत्व एवं उपयोगिता है, किन्तु सर्वत्र, सर्वकाल में और लगातार वह उपादेय नहीं है। भोजन काल में जल का भी अपना अलग महत्व है। भोजन के तुरन्त पहले जल पीना या जल पीकर तुरन्त भोजन करना कृशताकारक है। भोजन के पहले जल पीने से अग्निमांद्य होता है, भोजन के बीच-बीच में जल पीने से जठराग्नि प्रदीप्त होती है तथा भोजन के पश्चात् जल पीने से स्थूलता और कफ की वृद्धि होती है।

भुक्तस्यादौ सलिलं पीतं कार्श्यमन्दाग्निदोषकृत्।
मध्येऽग्निदीपनं श्रेष्ठमन्ते स्थौल्यकफप्रदम्॥

इसी तरह गुरु आहार के सेवन में भी सावधानी बरतनी चाहिये। गुरु या भारी आहार तीन प्रकार का होता है–१. स्वभावतः गुरु। जो द्रव्य पचने में भारी होते हैं या जो द्रव्य देर से पचते हैं वे स्वभावतः गुरु या भारी होते हैं। जैसे उड़द कद्दू, आलू आदि। ये द्रव्य कठिनता से देर में पचते हैं। २. मात्रा गुरु। कुछ द्रव्य स्वभावतः गुरु तो नहीं होते, किन्तु यदि अधिक मात्रा में उन्हें लिया जाता है तो उनका पचना मुश्किल होता है। जैसे कोई व्यक्ति केवल एक पाव दूध ही पचा सकता है। वह यदि आधा किलो या एक किलो दूध पीये तो वह उसे पचा नहीं पाएगा और उसे अजीर्ण या अतिसार हो जायगा। कई लोगों को एक छटाँक घी पचना भी कठिन होता है। घी, दूध, जूस आदि मात्रा गुरू होते हैं। ३. संस्कार गुरु–जो द्रव्य पकाने के बाद भारी गुण वाले या कठिनता से पचने वाले होते हैं वे संस्कार गुरु कहलाते हैं। जैसे–खीर, पुड़ी, पुआ, मिष्ठान्न आदि पकवान। जिन द्रव्यों से इन्हें बनाया या पकाया जाता है वे सामान्यतः गुरु प्रकृति के नहीं होते हैं, किन्तु पकाने के बाद उनमें गुरुता आती है। आहार द्रव्यों को बनाना या पकाना ही संस्कार कहलाता है। अतः संस्कार के परिणाम स्वरूप जो आहार द्रव्य बनकर तैयार होते हैं वे संस्कारतः गुरु होते हैं।

विहार–इसी प्रकार मनुष्य के द्वारा दैनिक क्रिया के रूप में जो कार्य या व्यवहार किया जाता है वह विहार कहलाता है। उसे भी आयुर्वेद में रोग या आरोग्य का कारण माना गया है। इस विषय में अष्टांग हृदय में आचार्य वाग्भट् ने स्पष्ट रूप से कहा है–

कालार्थकर्मणां योगो हीनमिथ्यातिमात्रकः।
सम्यग् योगश्च विज्ञेयः रोगारोग्यैककारणम्॥

अर्थात् काल (समय) अर्थ (इन्द्रिय गम्य समस्त पदार्थ) तथा कर्म (मनुष्य द्वारा किया जाने वाला समस्त क्रिया व्यापार)–इनके हीन योग, मिथ्या योग एवं अतियोग को रोग तथा इनके सम्यक् योग को आरोग्य का कारण समझना चाहिये।

काल से अभिप्राय दिन और रात्रि तथा ऋतु से है। दिन के तीन भाग हैं–प्रातः, मध्याह्न और सायम्। रात्रि के तीन भाग हैं–प्रथम प्रहर, मध्य प्रहर या मध्य रात्रि और अन्तिम प्रहर। ऋतुएं तीन या छह होती हैं–शीत ऋतु, ग्रीष्म ऋतु और वर्षा ऋतु। छः ऋतुएँ–वर्षा, शरद, हेमन्त, शिशिर, बसन्त और ग्रीष्म। इनका हीन, मिथ्या और अतियोग होना अर्थात् शीतऋतु में अपेक्षित या पर्याप्त ठंड नहीं होना, ग्रीष्म ऋतु में अपेक्षित या पर्याप्त गरमी नहीं पड़ना, वर्षा ऋतु में पर्याप्त या अपेक्षित वर्षा नहीं होना इन ऋतुओं का हीन योग है। इन ऋतुओं में अपेक्षा से अधिक सरदी, गरमी या बरसात होना उन ऋतुओं का अतियोग है। शीत ऋतु में गरमी होना, ग्रीष्म में सरदी होना, वर्षा में कम या अधिक, आगे-पीछे या विषम वर्षा होना, समय पर वर्षा नहीं होना मिथ्या योग है। ऋतुओं में इस प्रकार की विषमता होने से अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न हो जाते हैं। अतः ऋतुओं का विषम या मिथ्या योग रोग का कारण हैं। इसके विपरीत इन ऋतुओं का सम्यक् योग रहने पर मनुष्य स्वस्थ या निरोग रहते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपर्युक्त को ध्यान रखते हुए क्रियाएँ, आचरण या व्यवहार करना विहार कहलाता है। इसके लिए आयुर्वेद में दिनचर्या, निशाचर्या और ऋतु चर्या का निर्देश किया गया है और यह कहा गया है कि इन चर्याओं का नियमानुसार आचरण करने वाला व्यक्ति स्वस्थ रहता है और जो उनके अनुसार आचरण नहीं करता है वह अस्वस्थ या रोगी हो जाता है। निम्न आर्ष वचन द्वारा उपर्युक्त कथन की पुष्टि होती है–

दिनचर्यां निशाचर्यां ऋतुचर्यां यथोदिताम्।
आचरन् पुरुषः स्वस्थः सदा तिष्ठति नान्यथा॥

प्रातःकाल उठकर नित्य क्रियाएँ करना, शौच आदि से निवृत्त होकर आवश्यकता एवं क्षमता के अनुसार अभ्यंग, व्यायाम आदि करना, तदुपरान्त स्नान करना, समयानुसार वस्त्रा धारण करना, देव दर्शन करना, स्वाध्याय करना, ऋतु के अनुसार आहार लेना, अन्य दैनिक कार्य करना, सायंकालीन आहार लेना, विश्राम करना, रात्रि के प्रथम प्रहर में अध्ययन-स्वाध्याय करना आदि, तत्पश्चात् शयन करना–यह सब विहार के अन्तर्गत समाविष्ट है। मनुष्य यदि अपने आचरण को देश, काल, ऋतु के अनुसार संयमित रखता है तो कोई रोग या विकार उसे पीड़ित नहीं कर सकता। वही संयम जब बिगड़ जाता है तो उसका प्रभाव शरीर में स्थित दोषों पर पड़ता जिससे उनमें विषमता उत्पन्न हो जाती है और फिर रोग उत्पन्न होने की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है।

मनुष्य के आहार-विहार के अन्तर्गत आयुर्वेद में तीन उपस्तम्भ बतलाए गए हैं–आहार, निद्रा और ब्रह्मचर्य। ये तीनों ही सुदृढ़ स्वास्थ्य के आधार माने गए हैं। सम्पूर्ण आहार विहार इन तीन उपस्तम्भों में हीं समाविष्ट है। यही कारण है कि प्राचीन काल में इनके पालन-आचरण पर विशेष जोर दिया जाता रहा है। स्वविवेकानुसार यदि इनका पालन एवं आचरण किया जाता है तो मनुष्य आजीवन स्वस्थ तो रहता ही है, वह दीर्घायुष्य भी प्राप्त करता है।

पता :
सुशीला देवी जैन,
आरोग्य सेवा सदन,
सी. सी./११२ए, शालीमार बाग,
दिल्ली-११० ०५२

मॉसाहार के कारण किस तरह हमारी खनिज संपदा उजड़ रही है इसे मात्र इस तथ्य से जाना जा सकता है कि यदि मनुष्य मॉस-केन्द्रित आहार छोड़ दे तो जो पेट्रोल भण्डार उसे प्राप्त है वह २६० वर्षों तक चल सकता है; किन्तु यदि उसने ऐसा नहीं किया तो यह भण्डार सिर्फ १३ वर्ष चलेगा (रिएलिटीज १९८९)। वस्तुतः हम पेट्रोल का दोहन तो बेतहाशा कर रहे हैं; किन्तु फॉसिल-ऊर्जा के रूप में वनों द्वारा उसे धरती को वापिस नहीं कर रहे हैं।

–डॉ. नेमीचन्द जैन
(शाकाहार मानव-सभ्यता की सुबह : पेज ८१ से)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org